धर्म

डा० धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी,

सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,

डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय, राँची

चारों पुरुषार्थों में धर्म प्रथमस्थानीय है। भारतीय संस्कृति में धर्म को एक व्यापक स्तम्भ के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, जिससे मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन प्रभावित है। धर्म भारतीय संस्कृति का प्राण है। जितनी भी सामाजिक व्यवस्थाएं हैं, वे सभी विशेषतः धर्म पर आधारित हैं। भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले वेदों के सम्पूर्ण वर्ण्य विषयों को धर्म का मूल माना गया है-वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'।

भ्वादिगणीय की धारणार्थक 'धृञ्' धातु से उणादिसूत्र 'अर्तिस्तुसु' से 'मन्' प्रत्यय लगाकर 'धर्म' शब्द व्युत्पन्न होता है। धर्म शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ है- जो लोक को धारण करता है। वामन शिवराम आप्टे के अनुसार-'ध्रियते लोकोऽनेन, धरति लोकं वा अर्थात् धर्म ही ऐसा तत्त्व है जो व्यक्ति को देशकालानुसार आचरण की प्रेरणा देकर समाज में रहने के योग्य बनाता है। 'धारयते लोकम्' इति धर्मः व्युत्पत्ति सूचित करती है कि धर्म ही परिवार, समाज और राष्ट्र को एकसूत्र में पिरोने का कार्य करता है। इसी अर्थ को ध्यान में रखकर ही महर्षि वेदव्यास ने बताया है-

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।

यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।।

अमरकोष के अनुसार धर्म के छः अर्थ होते हैं-पुण्य (यज्ञ, अहिंसा आदि), आचार (धर्मशास्त्र आदि), स्वभाव, उपक्रम, उपनिषत्, न्याय (धर्माधिकारी आदि) अन्य कोषग्रन्थों में भी धर्म के कर्तव्य, कानून, न्याय, ईश्वर, भक्ति, धर्मशास्त्र, समानता, यज्ञ, सत्सङ्ग आदि अर्थ बताये गये हैं।

कतिपय विद्वानों का अभिमत है कि धर्म से अभिप्राय उन सम्पूर्ण क्रियाओं से है, जिनसे बिना किसी के अहित के स्व की उन्नति हो। पर अहंकारपूर्ण 'स्व' की भावना का त्याग ही भारतीय दृष्टिकोण है। यहाँ व्यक्ति का स्वरूप कल्याणकारी होता है।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

पुरुषार्थ चतुष्टय के रूप में धर्म वह तत्त्व है जो 'अर्थ' और 'काम' को मर्यादित करके लोकसुख (अभ्युदय) तथा मोक्षपरक परलोक सुख (निःश्रेयस्) की सिद्धि में सहायक हो, जैसा कि महर्षि कणाद ने लिखा है-'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'। यहाँ 'अभ्युदय' का तात्पर्य उतने ही 'अर्थ' तथा 'काम' के सेवन से है जितने के ग्रहण से शरीर यात्रा एवं मनस्तुष्टि का निर्वाह हो जाए, परन्तु अर्थ-काम में आसक्ति न उत्पन्न हो। महर्षि जैमिनि ने धर्म के प्रमाण और फल दोनों पर विचार करते हुए कहा है कि वेद लक्षण वाला अर्थ धर्म है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जो क्रिया सृष्टि की रक्षा करती हुई उसे उन्नति की ओर अग्रसारित करे वही वास्तव में धर्म की परिधि में आ सकती है।

मनु के अनुसार धर्म के चार आधार हैं- श्रुति, स्मृति, सदाचार और आत्मतुष्टि।

धर्मशास्त्रियों ने बताया है कि मानव व्यवहार के लिए उचित समस्त तत्त्व धर्म हैं। आचार्य मनु और याज्ञवल्क्य ने वेद, स्मृति, सदाचार एवं मन की प्रसन्नता को धर्म का मूल माना है-

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियामात्मनः।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।।

धर्म शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ, परिभाषा, धर्म के स्त्रोत, धर्म के लक्षणादि को देखने तथा समझने से कहा जा सकता है, जो कार्य और आचरण व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र की उन्नति करने में समर्थ हैं, वे धर्म हैं। इसके विपरीत अवनति की ओर अग्रसर करने वाला आचरण अधर्म है। अतएव व्यक्ति को वर्णाश्रमव्यवस्था के अनुसार कर्तव्य-पालन करना चाहिए। सत्य, अहिंसा, क्षमा आदि का सेवन करना चाहिए।

धर्म की यह परिभाषा नितान्त व्यापक, उदार एवं वैज्ञानिक है। इस परिभाषा के अनुसार, प्रेम, सद्भाव, उदारता आदि गुणों से पूर्ण पवित्र कर्म ही धर्म कहलाता है। इस प्रकार धर्म व्यक्ति के आचरण तथा व्यवहार की ऐसी संहिता है, जो उसके समस्त क्रियाकलापों को नियमित एवं व्यवस्थित करती है।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

भारतीय संस्कृति में धर्म का अर्थ सम्प्रदाय कदापि नहीं है। धर्म का अर्थ है सदाचरण और कर्तव्यपालन है। भारतीय संस्कृति में चारों पुरुषार्थों में धर्म का सर्वाधिक महत्त्व है। धर्म ही वह तत्त्व है, जो मनुष्य को पशुओं से अलग करता है, अन्यथा तो मौलिक आवश्यकताएं मनुष्य और पशुओं की प्रायः एक समान ही हैं-

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

धर्म भारतीय संस्कृति का प्राण है। इसलिए महर्षि वेदव्यास को जब धर्म की हानि का अनुभव हुआ, तो उन्होंने उद्घोषणा की-

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न हि कश्चिच्छृणोति मे।

धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।।

और उन्होंने धर्म की हानि और अधर्म के अभ्युत्थान के लिए और पुनः धर्मसंस्थापना के लिए ही भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार का सुन्दर चित्रण किया है-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थामधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।

धर्म की आवश्यकता अभ्युत्थान के लिए है और अभ्युदय से सुख मिलता है। अधर्म से अवनति होती है, फलस्वरूप दुःख मिलता है। अतः सुखार्थी मनुष्य को भी धर्म पुरुषार्थ की सिद्धि में तत्पर रहना चाहिए। भारतीय मनीषियों ने तो धर्म पर ही परलोक की निर्भरता को मानते हुए अपना अभिमत प्रकट किया है कि परलोक में बन्धु-बान्धव और मित्र अथवा परिवारजन साथ नहीं देते, वहाँ भी व्यक्ति के साथ उसका धर्म ही रहता है।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

धर्म के विषय में यहाँ तक माना गया है कि जो अपने धर्म को छोड़ देता है, धर्म उसे नष्ट कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। अतएव धर्म की रक्षा करनी चाहिए-

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्।।

व्यक्ति के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं होता कि वह धर्म और उसके महत्त्व को समझे। उसे तो धर्म को समझकर उसे व्यवहार में भी लाना चाहिए।

महाभारतकार ने कहा है कि काम, भय, लोभ के भय से और यहाँ तक कि जीवन के भी डर से धर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य है तथा जीव नित्य है और जीवन अनित्य है। अतएव धर्म महत्त्वपूर्ण और पालनीय है।

धर्म से ही व्यक्तियों में सद्गुणों का प्रादुर्भाव होता है, सत्त्वगुण की प्राप्ति होती है, भगवत्प्राप्ति होती है और धर्म से विजयप्राप्ति होती है। अतएव जो मनुष्य कर्तव्यपालनरूप आचरण करता है, वही सच्चे अर्थ में मनुष्य है।

मनुस्मृति में धर्म के तीन भेद माने गए हैं-सामान्य धर्म, विशिष्ट धर्म और आपद्धर्म।

सामान्य धर्म के अन्तर्गत उन मानव मूल्यों एवं कर्तव्यों का समावेश किया गया है जो प्रायः सभी के लिए अनुकरणीय हैं। साधारण धर्म मनुष्य के मानवता युक्त नैतिक कर्म से सम्बन्धित हैं। मानव मूल्यों का नियोजन साधारण धर्म के अन्तर्गत होता है जो प्रायः सभी के लिए अनुकरणीय होता है। समाज के सभी व्यक्तियों के लिए, चाहे वे कैसे भी हों, इस धर्म का अनुसरण करना अपेक्षित था। यह धर्म समस्त मानव जाति से सम्बन्धित तथा उसके कल्याण के लिए क्रियाशील था। मनुष्य का प्रधान उद्देश्य था मोक्ष प्राप्त करना। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्य के सद्गुणों का विकास करना भी आवश्यक था। मनुस्मृति के अनुसार धृति (धैर्य), दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच (पवित्रता), इन्द्रियनिग्रह (इन्द्रियों को वश में रखना), धी (शास्त्र के तत्त्व को जानने वाली बुद्धि), आत्मज्ञान वाली विद्या, सत्य एवं क्रोध न करना ये दश गुण साधारण धर्म हैं-

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

धर्म के इन लक्षणों को व्यवहार के रूप में अपनाने वाले व्यक्ति परमगति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं। अन्य ग्रन्थों में भी साधारण धर्म के तत्त्वों का संकेत किया गया है। उन सबके आधार पर साधारण धर्म के अग्रलिखित लक्षण निर्देशित किए जा सकते हैं- सत्य, तप, शुचिता, दया, कष्टसहिष्णुता, नीर-क्षीर-विवेक, मन पर नियन्त्रण, इन्द्रियसंयम, ब्रह्मचर्य, त्याग, अहिंसा, स्वाध्याय, संतोष, सरलता, सम्यक् दृष्टि, सेवा, लौकिक सुख के प्रति उदासीनता, मौन, आत्मचिन्तन, सभी प्राणियों में अपने आराध्य का दर्शन, श्रेष्ठ पुरुष का संग, ईश्वर का गुण-गान, ईश्वर चिन्तन, ईश्वर सेवा, पूजा और यज्ञ का अनुसरण, अहिंसा, क्षमा, शरणागत रक्षा, मधुर वचन, अतिथि सेवा आदि।

विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत वर्णधर्म, आश्रम धर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म और नैमित्तिक धर्म का परिगणन किया जाता है। इन गुणों या कर्तव्यों का निर्देश व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष की दृष्टि से किया गया है। वर्णधर्म से तात्पर्य है विभिन्न वर्णों के कर्म, कर्तव्य और नियम। प्रत्येक वर्ण के लिए अपने अलग-अलग कर्तव्य और नियम निर्धारित किए गए हैं। यही वर्णधर्म कहा जाता है। प्राचीन काल में मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को विभिन्न स्तर के साथ अनुशासन, संयम और नियम के अन्तर्गत रखा गया था, जिसे आश्रम व्यवस्था कहते हैं। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक चार आश्रमों में विभाजित था-ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम तथा संन्यास आश्रम। सभी आश्रमों के लिए पृथक्-पृथक् कर्तव्यों का निर्देश किया गया है। ये सभी विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत आते हैं।

आपत्कालीन (प्रतिकूल) परिस्थितियों में स्वीकार किए जा सकने वाले कर्म आपत्धर्म के अन्तर्गत आते हैं। मनुस्मृति में इनका विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अनुसार एक वर्ण के सदस्य आपत्तिकाल में दूसरे वर्ण के धर्म को अपना सकते थे। ऐसी अवस्था में व्यक्ति का मूलभूत वर्णगत कर्तव्य छूट जाता था तथा वह दूसरे वर्ण के धर्म पर अपनी आजीविका चलाना प्रारम्भ कर देता था।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

वस्तुतः धर्म का विचार भारतीय चिन्तन परम्परा का केन्द्रबिन्दु है, यही व्यक्ति की भौतिक उन्नति तथा उसके आध्यात्मिक विकास दोनों का हेतु है। यही व्यक्ति का व्यक्तित्व, समाज का समाजत्व और संस्कृति बनाये रखता है। धर्म व्यक्ति के आचरण और व्यवहार की एक संहिता है जो उसके कार्यों को देश, काल और परिस्थिति के अनुसार व्यवस्थित, नियमित और नियन्त्रित करता है तथा उसे स्वस्थ और उज्ज्वल जीवन जीने के लिए ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करता है। धर्म को केवल जान लेने से उसका लाभ नहीं मिलता, लाभ तो होता है, उसके प्रत्यक्ष आचरण से। धर्म का यदि आचरण न किया जाए, केवल उसका ज्ञान भर कर लिया जाए, तो ऐसा कोरा ज्ञान दुःख का कारण बनता है। धर्म के आचरण से मनुष्य में प्रताप, प्रभाव, नीति, शौर्य, शक्ति, औदार्य आदि सद्गुणों का प्रादुर्भाव होता है। धर्म के प्रभाव से मनुष्यों के दुर्व्यसन, दीनता, दौर्भाग्य जैसे दोष भी दूर हो जाते हैं।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi